



दलित साहित्य में अम्बेडकर का वैचारिक अवदान

निर्मल सुवासिया

शोधार्थी मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

*Corresponding Author-* निर्मल सुवासिया

Email id: [suwasianirmal@gmail.com](mailto:suwasiyanirmal@gmail.com)

DOI- 10.5281/zenodo.7266766

यह बात शत-प्रतिशत सही है कि दलित साहित्य ने अपने समय और समाज को जिस सच्चाई के साथ चित्रित किया है, किसी साहित्य और साहित्यकार ने नहीं की इसलिए वैचारिक दृष्टि से देखा जाय तो यह साहित्य अब तक का सबसे यथार्थवादी साहित्य है। 'दलित' शब्द व दलित साहित्य को परिभाषित कर देने के बाद यह अपने आप में संकुचित और सीमित रूप ले लेता है। 'दलित' शब्द का वास्तविक अर्थ है दबाया हुआ, कुचला हुआ जिसे सदियों से दबाया गया हो अथवा जिसे बढ़ने या पनपने न दिया गया हो। लेकिन परम्परा के अनुसार जिसे हम शूद्र या अछूत कहते हैं उसी अर्थ में हम आज दलित को देखते हैं या यूँ कहे कि देखने लगे हैं। शूद्र को दलित का पर्याय मान लेने के बाद रूढ़िगत हिन्दू समाज के अंधविश्वासों का शिकार, हजार वर्षों से अछूत का जीवन जीने वाला दीन-हीन व्यक्ति का चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है। जिसने धर्म के नाम पर बर्बर यातनाएँ झेली हैं। अस्पृश्यता के विष को पिया है। इसलिए उन्हें अछूत, अन्त्यज, शूद्र आदि नाम दिये गये। जहाँ तक हम बात करें दलित साहित्य पर दलित रचनाकारों की तो उनका दृष्टिकोण गैर दलित साहित्यकारों से भिन्न होता है उनके विचार में ओमप्रकाश वाल्मीकि जी का कहना है कि “दलितों से सहानुभूति रखने वाले सवर्णों का दृष्टिकोण सिर्फ दया का होता है, जिसके पीछे वे अपराध बोध के स्वर को तीखा नहीं होने देते।”

श्यामराज सिंह बेचैन का भी लगभग यही सोचना है कि – “गैर दलितों द्वारा दलितों पर लिखा गया साहित्य दलित साहित्य नहीं कहा जा सकता। दलित साहित्य के मूलभूत आदर्श में वर्णव्यवस्था विरोध है. गैर दलित इस विचार को छूए बगैर सहानुभूतिवश जब लिखते हैं, तो वह एक सुधारवादी दृष्टिकोण होता है, जिससे बदलाव की प्रक्रिया में कोई मदद नहीं मिलती। दलित साहित्यकार ने जिस पीड़ा को भोगा है उसे वह जब मुखर अभिव्यक्ति देता है, तो एक नयी चेतना जन्म लेती है जिसका अभाव हिन्दी साहित्य में स्पष्ट देखा जा सकता है। दलित साहित्य समानता का पक्षधर है जाति व्यवस्था

का लाभ ले रहे साहित्यकार यथा स्थिति कायम रहना चाहते हैं।”<sup>ii</sup>

दलित साहित्य को वैचारिक दृष्टि से देखा जाय तो अधिकांश दलित साहित्यकारों की मान्यता है कि • दलितों का दलितों के लिए, दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य दलित साहित्य है। इस संदर्भ में डॉ. कुमुद पाटिल का विचार है- “दलित साहित्य शोषितों का साहित्य है।”<sup>iii</sup> डॉ. विमल कीर्ति लिखते हैं “दलित साहित्य में सामाजिक दर्द है, जातिवाद की पीड़ा है, शोषण तथा उत्पीड़न की पीड़ा है, शोषण तथा उत्पीड़न के कारणों की तलाश भी है। इसमें आत्मवाद,

ईश्वरवाद, द्वैतवाद के विरुद्ध विद्रोह की प्रेरणा है, इसलिए दलित साहित्य वक्त का साहित्य है।<sup>iv</sup>

भारतीय दलित साहित्य के रचनाकारों का पहला सम्मेलन डॉ. अम्बेडकर की मृत्यु के पश्चात् 18 जनवरी, 1958 ई. में मुम्बई में हुआ। इस अवसर पर दलितों की एक मात्र साप्ताहिक पत्रिका 'प्रबुद्ध-भारत के सम्पादक लिखते हैं - "इस विचित्र समाज व्यवस्था के विरुद्ध दलित समाज को निरंतर विद्रोह करना होगा। इस विद्रोह का इतिहास ही दलित साहित्य है।"

दलित साहित्य को परिभाषित करते हुए प्रेमकुमार मणि अपने आलेख - दलित साहित्य : एक परिचय' में कहते हैं - "दलित शब्द एक जनसमुदाय के लिए है, जो सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक स्तर पर कुचले गये और इस शब्द का साहित्य से जुड़ना इस पूरे वर्ग को साहित्य से जोड़ने की बात कहता है यह साहित्य उन तमाम लोगों की खुले तौर पर वकालत करता है, जो दलित हैं, पीड़ित हैं, शोषित हैं।"<sup>v</sup>

उपरोक्त साहित्यकारों व विद्वानों के विचारों के आधार पर कुल मिलाकर हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि दलितों की वेदना एक ही नहीं है, न ही एक दिन की है। यह वेदना हजारों वर्षों की है, इसलिए | व्यक्त होते समय समूह में व्यक्त होती है। इसलिए साहित्य की वेदना मैं की वेदना नहीं है वह बहिष्कृत समाज की वेदना है। इसलिए इस वेदना का स्वरूप सामाजिक है। "दलित साहित्य में नकार और विद्रोह दलितों की वेदना से पैदा हुआ है। यह नकार और विद्रोह अपने ऊपर लादी अमानवीय व्यवस्था के विरुद्ध है। दलित साहित्य में जैसे वेदना सामूहिक रूप से व्यक्त होती है वैसे ही नकार और विद्रोह भी सामाजिक एवं सामूहिक है। जिस स्थापित विषम व्यवस्था ने दलितों का शोषण किया उसी

निर्मल सुवासिया

व्यवस्था के प्रति यह नकार और विद्रोह है। इसका स्वर दो धारा है। विषम व्यवस्था को नकारते हुए समता और स्वतंत्रता न्याय और बंधुत्व की मांग करता है। मैं मनुष्य हूँ, मुझे मनुष्य का सभी इक मिलना चाहिए, इस ज्ञान से यह विद्रोह पैदा हुआ है।"<sup>vi</sup>

प्रो. मैनेजर पाण्डेय कहते हैं "गुलामी की यातना जो सहता है, वही जानता है और जो जानता है वही पूरा सच कह सकता है। सचमुच राख ही जानती है जलने का अनुभव कोई और नहीं।"<sup>vii</sup> वास्तव में दलित साहित्य का अनुभव अब तक साहित्य में न व्यक्त हुआ अनुभव है। यह जाति विशेष का अनुभव है, इसलिए यह एक व्यक्ति का होते हुए भी पूरी जाति को प्रतिनिधित्व देता है, उसकी पीड़ा और आक्रोश को प्रतिबिम्बित करता है तथा जिन जातियों ने हजारों वर्षों से शोषण, अत्याचार और अन्याय को सहा है या सहती रही है उसके बावजूद अभी उनके मुँह से चीख तक नहीं निकली, वही जातियाँ आज अपनी चीख, छटपटाहट और आक्रोश को आवाज देने लगी है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि आज उनकी उस दर्द भरी आवाज को सुना भी जा रहा है। कुल मिलाकर देखा जाय तो दलित साहित्य भविष्य का साहित्य जिसके संदर्भ में राजेन्द्र यादव जी का भी कुछ ऐसा ही विचार है कि "अगली सदी दलित रचनाकारों की होगी, सच मालूम पड़ता है।"<sup>viii</sup>

वैसे देखा जाय तो दलित साहित्य को अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग विचारों से व्याख्यायित किया है, जिसमें दलित साहित्य को देखा जाय तो दो भागों में बांटा गया है। एक दलितों द्वारा लिखा गया दलित साहित्य जिसके अनुसार जातिगत शोषण ही दलितों के प्रति दया और करुणा का भाव पैदा करता है तो दूसरी तरफ गैर दलित लेखकों द्वारा अपने गहरे

संवेदनात्मक लगाव के तहत दलितों की पीड़ा को उकेरने का भरपूर प्रयत्न करता है। इसमें गैर दलित लेखकों, प्रेमचंद नागार्जुन, निराला, अमृतलाल नागर आदि ने सफलता भी हासिल की है। लेकिन यही दलित रचनाकारों के प्रति पक्षपरता दिखाने वाले दलित विमर्शकारों का तर्क है कि “गैर दलित साहित्यकार जहाँ एक तरफ हुआ दलित हत्या बलात्कार तथा गरीबी आदि का रोचक वर्णन करता है। वही दूसरी ओर वह वेद, पुराणों, महाभारत, गीता, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, याज्ञवल्क्य स्मृति, मनुस्मृति, नारदस्मृति, रामायण, रामचरित मानस, शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र भाष्य आदि वर्णव्यवस्था स्थापक ग्रन्थों को अभेध मानकर उनकी पूजा करने से भी बाज नहीं आता। ऐसे साहित्यकारों में कुछ ऐसे अवश्य मिल जाते हैं, जो उक्त ग्रंथों की पूजा भले न करें किन्तु उनके खिलाफ एक शब्द नहीं बोलते निराला जैसे क्रांतिकारी कवि इलाहाबाद की ओर जाने वाली सड़क पर पत्थर तोड़ने वाली दलित बाला पर मोहित अवश्य होते हैं, किन्तु दूसरे ही पल राम की पूजा करना नहीं भूलते। यदि वर्णव्यवस्था को स्थापित करने वाले ये धर्मग्रंथ नहीं होते तो सम्भवतः कही दलित साहित्य की आवश्यकता नहीं पड़ती।”

इस विचार के अनुसार किसी साहित्यकार को दलित साहित्यकार होने के लिए यह अनिवार्य है कि वह दलित जाति में पैदा हुआ हो। दलित साहित्य की मुख्य धारा के चिन्तकों का मानना है कि दलित साहित्यकार वही है जो जाति से दलित है। वे दलित साहित्य को व्यापक अर्थ में न देखकर दलित जाति के संदर्भ में ही देखते हैं। वे दलितों में उनर रहे अभिजातीय व शोषक वर्ग के उभार को दरकिनार ही करते आ रहे हैं। दलित साहित्य के चिन्तकों की धारा दलित शब्द का व्यापक अर्थ लगाते हैं। उनका मानना है कि किसी भी जाति या धर्म से सम्बन्ध रखने वाला

निर्मल सुवासिया

व्यक्ति अगर सामाजिक और आर्थिक रूप से शोषित है तो, उसे भी दलितों की एक श्रेणी के रूप में रेखांकित किया जाना चाहिए। आज दलितों में खासतौर से कस्बों, नगरी और महानगरों में एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया है जिसने गुणात्मक रूप से अच्छी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में जन्म लेने के कारण जातीय उत्पीड़न को बिल्कुल नहीं झेला है। इस प्रकार का दलित अन्य अमीर तबकों की तरह न सिर्फ दलितों का दुश्मन साबित हो रहा है अपितु स्वयं दलितों में ही शोषकों की एक श्रेणी को संभव बना रहा है। वह वास्तव में सत्ता का दलाल है अगर ऐसे दलित सभी दलितों की पीड़ा को जानने, समझने और महसूस करने का दावा करते हैं, तो इसे दलित विमर्शकार ही तय करें कि यह कहाँ तक उचित है?

इस अभिजातीय और शोषक दलित को दलित साहित्यकार का प्रणेता माना जा सकता है तो किसी अन्य जाति में पैदा हुए दलितवादी, जनवादी लेखक को क्यों नहीं? क्या उसे दलित साहित्यकार या दलितों का समर्थक सिर्फ इसलिए नहीं मानेंगे कि उसने दलित जाति में जन्म नहीं लिया है? जो दलित धर्मान्तरण करके अन्य धर्मों में जा चुके हैं उन धर्मों में हिन्दू धर्म के विपरीत वहाँ सैद्धान्तिक तौर पर जाति के आधार पर छुआछूत या भेदभाव नहीं झेलना पड़ा है।

वैसे देखा जाय तो दलित साहित्य का वैचारिक आधार डॉ. अम्बेडकर का जीवन संघर्ष एवं ज्योतिबा फुले और बुद्ध का दर्शन उसकी दार्शनिकता का आधार हैं सभी दलित रचनाकार इस बिन्दु पर एकमत भी हैं कि ज्योतिबा फुले ने स्वयं क्रियाशील रहकर सानन्ती मूल्यों और सामाजिक गुलानी के विरोध का स्वर तेज किया था। अपनी ब्राह्मणवादी सोच और वर्चस्व या प्रभुत्व के विरोध में उन्होंने आन्दोलन खड़ा किया

था। आज यही कारण है कि जहाँ दलित रचनाकारों ने ज्योतिबा फुले को अपना विशिष्ट विचारक माना वही डॉ. अम्बेडकर को अपना शक्तिपुंज के रूप में स्वीकार किया है, ऐसा शक्तिपुंज जिससे समूचा दलित लेखन वैचारिक ऊर्जा ग्रहण करता है। डॉ. अम्बेडकर और ज्योतिबा फुले के विचारों की प्रखर शक्ति पाकर

आज दलित साहित्य आन्दोलन प्रगति की ओर बढ़ रहा है। जहाँ दलित साहित्य को डॉ. अम्बेडकर के जीवन दर्शन से वैचारिक ऊर्जा मिला है वही तथागत बुद्ध की दार्शनिकता ने उसे सामाजिक दृष्टि दी है। साथ ही ज्योतिबा फुले के जीवन-संघर्ष से उसे गहन प्रेरणा मिली है।

---

<sup>i</sup> जनमत, 1-15 सितम्बर, 1994

<sup>ii</sup> हंस, जुलाई 1996, पृ. 75

<sup>iii</sup> पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, दलित साहित्य और सामाजिक न्याय, पृ. 86

<sup>iv</sup> पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, दलित साहित्य और सामाजिक न्याय, पृ. 87

<sup>v</sup> पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, दलित साहित्य और सामाजिक न्याय, पृ. 17

<sup>vi</sup> हंस, जनवरी 1999, पृ. 89

<sup>vii</sup> हंस, जनवरी 1997, पृ. 53

<sup>viii</sup> ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ. 21